

व्यक्तित्व और कृतित्व



मुझे कोई प्राप्ति नहीं मिली थी 'पर बातचीत भी जारी। केवल मेरा ही भरोसा था, कि पहले चित्रों को देखा जाये। पहला स्पर्श, स्पर्श, स्पर्श अपना निशान है। दृष्टि और चित्र के बीच कोई अन्तर, तन्मात्र, कोई दीवार, कोई माध्यम नहीं।

कला कर्म में दिव्य शक्तियों का सहयोग अनिवार्य है

पेरिस में बसे सुप्रसिद्ध चित्रकार सैयद हैदर रजा से
मनमोहन सरल की मनस्वी के लिए विशेष बातचीत

पहली बार रजा साहब से बीस साल पहले मिला था। इन बीस सालों में यद्यपि उम्र ने उनके शरीर पर अपने निशान डाले हैं, कुछेक बीमारियों ने भी ७८ वर्षीय देह में डेरा डालकर उन्हें कुश बनाने की कोशिश की है पर उनका मन अब भी उतना ही युवा, सक्रिय और ऊर्जावान लगा जितना कि वह तब था जब ८० के दशक में मैं पहली बार उनसे मिला था।

हम लोग उनकी प्रिय जगह ताज इंटर कॉन्टिनेंटल के एक रेखा में बैठे थे और उन बीस सालों की याद ताजा कर रहे थे। अब तो उन पर डॉक्टरों ने बहुत सारे परहेज थोप दिए हैं पर कुछ साल पहले इसी जगह उन्होंने भेल-पूरी और चाट की फरमाइश की थी। वे थोड़े समय के लिए भारत आते हैं और उस संक्षिप्त समय में भी उनके अनेक कार्यक्रम होते हैं। मुंबई में ही नहीं, प्रायः देश का आधा भाग वे हर बार तय करते हैं, इसलिए जरूरी था। स्टेटस सिंबल जैसा कुछ नहीं, यहाँ थोड़े समय में अनेक व्यस्तताओं को निभाने की मजबूरी थी। 'क्योंकि बीमार होना मैं अफोर्ड नहीं कर सकता।' कहा था रजा ने।

आज वे सिर्फ बिसलरी पी रहे थे जिसके घूँट वे बातों के बीच लेते रहे। हमेशा बहुत अच्छी और सारगर्भित बातें करते हैं रजा, और जब भी वे पुराने समय की चर्चा करते हैं, कुछ ज्यादा ही भावुक हो जाते हैं, खासकर अपने बचपन और जन्म-स्थान की बातों पर।

जैसा के फ्रांसीसी समीक्षक बॉदेल्यर जार्ज ने लिखा है, रजा 'किसी भारतीय मिनीयेचर चित्र के राजकुमार से छरहरे और मर्द, लम्बे और गटे

हुए दिखाई देते हैं। सुते चेहरे वाली उनकी सुलेमानी आँखें उसे रोशनी से भर देती हैं। यह तेजस्वी मुखौटा भव्य है क्योंकि यह विचार जिसे वह पोसता है, महान् है।' अब भी सब कुछ वैसा ही है, खासकर वह सुलेमानी आँखें रोशनी से भरी हुई।

रजा १९२२ में जन्मे थे मध्यप्रदेश के बावरिया के वनक्षेत्र में। पिता महकमा जंगलात में वार्डन थे इसलिए बावरिया, बर्चई, मंडला, कान्हा-



किसली के जंगलों का रहस्यभरा सत्राटा उनके कानों में गूँजता रहा जिसकी गूँज आज भी बनी हुई है। सतपुड़ा और विंध्याचल की पर्वत श्रेणियों के बीच की हरीतिमा और कहीं दूर उद्गम से आता नर्मदा का शोर उनकी साँसों में बसा हुआ है जिसकी प्रतिध्वनि हजारों मील दूर पेरिस में पचास साल बाद भी सुनाई देती है उन्हें।

हाँ, पचास साल हो गए रजा को भारत छोड़े हुए। आम भारतीय की एक औसत और पूरी

जिंदगी। अक्तूबर १९५० को वे पानी के जहाज से रवाना हुए थे और पीछे छूट गया था अपना वतन, बंबई जहाँ उन्होंने हुसैन, आरा, सूजा, गादे और बाकरे के साथ मिल कर नौजवान और प्रयोगशील चित्रकारों का गुप बनाया था - 'प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट गुप, बावरिया का वनप्रान्तर, नर्मदा, विंध्याचल और तमाम साथी जिन्होंने उनमें वह शक्ति और प्रेरणा भर दी थी कि वे देश से बाहर जा सकें।

रजा ने पहले नागपुर के कला विद्यालय में, फिर बंबई के जेजे में शिक्षा पाई। १९४७ से ५० तक भारत में प्रदर्शनियाँ कीं और उन्हें भारत सरकार तथा फ्रांस की छात्रवृत्तियाँ मिलीं। पहली छात्रवृत्ति ने अवसर दिया भारत के कई ग्रामीण अंचलों को निकट से पहचानने की जबकि दूसरी छात्रवृत्ति ने उन्हें पेरिस भेज दिया, चित्रकला और रचनात्मकता के नए क्षितिज तलाशने के लिए।

वहाँ के 'इकोल नेशनल द बो जार' की अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद तमाम अभावों और मुश्किलों के बावजूद उन्होंने पेरिस में ही रुक जाना तय किया और १९५६ में उसी 'इकोल' (स्कूल) की एक चित्रकार छात्रा जानीन मोजीला से विवाह कर लिया। यद्यपि उसी साल उन्हें पेरिस का सम्मानित पुरस्कार 'प्रि द ला क्रोतीक' मिल चुका था और उनके काम को पहचान भी मिलने लगी थी किंतु आर्थिक अभाव फिर भी उन दिनों रहा। उनके समकालीन चित्रकार मित्र कृष्ण खन्ना के अनुसार, 'वहाँ रुकने और काम करने का उसका कठोर निश्चय जीवन-यापन को बेहद मुश्किल और दुरूह बना



○ पाठकों की प्रशंसा ही मेरे लिए सबसे बड़ा पुरस्कार है। साहित्य को किसी बैसाखी की ज़रूरत नहीं होती है वह अपना स्थान खुद-ब-खुद बना लेता है।

● उपन्यास या आत्म-कथा लिखने का विचार नहीं है क्या ?

○ उपन्यास लिखने के लिए समय नहीं मिल पाता। मैं एक घरेलू मध्यमवर्गीय महिला हूँ मेरे अनुभव सीमित हैं जबकि उपन्यास के लिए व्यापक अनुभव चाहिए। जब भी फुर्सत मिलती है कहानियाँ लिख लेती हूँ। लंबी कहानियाँ लिखती हूँ। आत्मकथा लिखूँगी तो कौन पढ़ेगा ? साधारण जीवन रहा है मेरा। कहीं कोई संघर्ष या सनसनीखेज घटना नहीं रही मेरे जीवन में। अगर भविष्य में विचार बना तो ज़रूर लिखूँगी।

● जब आज़ादी का आन्दोलन चल रहा था तब साहित्यकारों की अहम् भूमिका रही थी लेकिन इधर दो-तीन दशकों से साहित्यकार जन-आंदोलन से एकदम हटता जा रहा है, ऐसा क्यों ?

○ ऐसा नहीं है। साहित्यकार हमेशा जनता से जुड़ा रहा है। अभी देखिए 'कारगिल' पर कितनी कविताएँ लिखी गईं। विमान अपहरण के समय भी हम हर पल उससे जुड़े रहे। इसके अलावा समाज की अन्य समस्याओं जैसे जातिवाद, भ्रष्टाचार, अनाचार तथा तात्कालिक घटनाओं पर लिखा जाता रहा है।

● कलाकेन्द्र भारत-भवन के बारे में आपकी क्या राय है।

○ भारत-भवन आज तक जन साधारण से नहीं जुड़ पाया है। इस कला केन्द्र की अपनी अलग संस्कृति है। जो भी वहाँ कार्यक्रम होते हैं, वे बोझिल तथा दुरुह होते हैं इसलिए इतने वर्षों बाद भी भारत-भवन अपनी छवि सभी के बीच स्थापित नहीं कर पाया है। ■

सिन्धी कविता अंग्रेजी में अनुवादित

● पोपटी हीरानन्दानी

पति की जुबानी

यह घर मेरा है
मैंने तुम्हे स्पर्श किया
आलिंगन बढ़ किया
महसूस किया और
भोगा भी।
इसलिए ही तुम्हें अपने
साथ रखा है।
संगमरमरी फर्श
दीवारों की ओट
सर पर छत
साजों सामान से भरपूर
घर में एक कोने में
रसोई है
पास ही एक बैठक।
तुम मेरे लिए
खाना बनाती हो
तो दो वक्रत की रोटी
अपने लिए भी जुटा लेती हो।
यह घर अगर गूँजता है
बच्चों की किलकारियों से
ये बच्चे मेरा अपना खून हैं
ये ही मेरी सम्पत्ति के वारिस होंगे
रोशन करेंगे नाम मेरा,
मेरे वंश के संवाहक होंगे
मेरा परलोक भी सुधारेंगे।
तुमने मेरे बच्चों को जन्म
दिया है, तो तुम
स्त्रीत्व-मामृतत्व का
सुख भोग रही हो।
अगर मैं इन बच्चों के
बाप होने का दावा वापस ले लूँ
तो तुम्हारे हक का क्या होगा ?
तुम्हारा अस्तित्व मुझसे है
तुम तो तुम
तुम्हारा जो कुछ अपना है
उस सब का भी मैं ही स्वामी हूँ।
जहाँ तक मेरी बात है
बस इतना ही काफी है
मैं तुम्हारा पति हूँ।

यह कविता पति की जुबानी शिकागो रिव्यू वाल्यूम ३८ 'द कॉन्टेम्प러리 इण्डियन लिटरेचर' पुस्तक में प्रकाशित मूल लेखिका कु.पोपटी हीरानन्दानी द्वारा सिन्धी से अंग्रेजी में अनुवादित 'द हसबन्ड' का हिन्दी अनुवाद।

-अनुवादिका : डॉ. चन्द्रा सायता

THE HUSBANDS SPEAKS

This house is mine
I've touched you
Kissed you
Felt and enjoyed you
That's why I keep you here.
This house with its marble floor
Decorated with fine furniture
A roof above
walls on every side
A kitchen nearby
And there is a living room
You cook my food,
Get your two meals from me.
This home is filled with lively children
Blood of my blood, they'll use my wealth
Hallow my name
And prepetuate my lineage.
Propitiating my spirit
They'll provide food for me
In the next world, if not the present.
You mothered my children,
So you enjoy the status of a lady,
If I held back my claim
To fatherhood you'd lose
Your claim.
You belong to me
wholly and truly you are mine.
I own all that is yours.
Well
For me it's different
I'am your husband.

रहा था। वह हिन्दी पढ़ा कर थोड़ा-बहुत पैसा पा रहा था और एक प्रकाशक मित्र ने उसे ग्रीटिंग कार्ड्स बनाने और किताबों को सजाने का काम दे रखा था। यह एक दुरूह जीवन था और जाड़ा अपनी यंत्रणा लिए था और उसकी एकमात्र सुरक्षा एक पुराना ओवरकोट था।

पर १९५६ के बाद रजा को राहत मिलने लगी थी। पहचान मिली थी और चित्रों की कीमतें भी बढ़ी थीं। एक गैलरी से उसका अनुबंध हो गया था। जब वे १९५९ में पहली बार भारत आए और अपने साथ कुछ छोटे चित्र लाए थे। उसकी कीमतें सुनकर साथी भारतीय चित्रकार आतंकित हुए और रजा के साथ लगी सामूहिक प्रदर्शनी में उन सबने भी अपनी कीमतें बढ़ा दीं।

१९७५ से वे लगातार भारत आ रहे हैं, अक्सर तो हर साल। 'अपने देश से जीवनग्राही संबंध रख सकना, इतनी दूर, इतने सालों बाद भी, मेरे लिए एक सुखद अनुभूति है' प्लातो बोबूर में संग्रहित हुए पेरिस में रजा ने कहा था। मैं तब फ्रांस

बार उन्होंने कहा था, 'एक भारतीय को मिटाना असंभव है।'

पेरिस और भारत, भारत और पेरिस। पश्चिम और पूर्व, पूर्व और पश्चिम। रजा की आँखों में ये दो भौगोलिक भूखंड नहीं हैं, एक ही मनुष्य के दो चेहरे हैं। उन्हें ऊर्जा और प्राणदायिनी शक्ति भारत से, अपने बतन से मिली है और कहने की, रचने की, अभिव्यक्ति की शैली और उसे समझाने की क्षमता पश्चिम से मिली है। वे पेरिस में रहकर भी भारत में बने रहते हैं। जहाँ वे अजंता के वैभव की गर्वोक्ति करते हैं, वहीं वे बीसवीं शताब्दी की कला की संपूर्ण विजयों से लाभ लेते हैं।

पेरिस में हुई मुलाकात से पहले और बाद में इन बीस सालों में उनसे कई बार मिलना



कि वे अब क्या नया कर रहे हैं।

इस बार वे बहुत थोड़े समय के लिए आए थे। मिलते ही उन्होंने मुझे निकट खींच लिया और बोले, 'भई, मुझे तुमसे बात करनी है, खासकर, तुमसे ही क्योंकि तुमसे अपने सभी कालखंडों पर चर्चा हो चुकी है। अब जो मेरे काम का 'फेज' आया उसकी बाबत भी तुम्हें बताना जरूरी होगा।'

और उस शाम हम आमने-सामने थे और बिसलरी की चुस्कियाँ लेते हुए बात कर रहे थे।

'मैं आधा हिन्दी में, आधा अंग्रेजी में बोलूँगा। दिक्कत तो न होगी?' उन्होंने पूछा था।

मेरे सिर हिलाते ही वह शुरू हो गए थे : 'क्या मैं बहुत सामान्य बातों से आरंभ कर सकता हूँ जो मेरे अनुसार मेरी पेंटिंग के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं? मैं पहले भारत में फिर विदेश में बहुत ही कठिन अकादमिक ट्रेनिंग से गुजरा हूँ जिसका लक्ष्य उन तत्वों को पाना था जिन पर चित्रों की साँस निर्भर है। मैं साँस की बात कर रहा हूँ, आत्मा की नहीं।'

मुझे याद आता है कि १९७९ में भी उन्होंने चित्रों की साँस की बात की थी। चित्रों के प्राण जिन पर निर्भर है।

'मैं अपने, सिर्फ अपने बारे में कह सकता हूँ। एक बच्चा जो मध्यप्रदेश के बहुत ज्यादा खूबसूरत जंगलों में पैदा हुआ, जिला नरसिंहपुर, मंडला जहाँ सतपुड़ा-विंध्याचल की पहाड़ियाँ हैं और नर्मदा जहाँ बहती है। अनजाने ही प्रकृति और मुझमें एक संबंध बन गया। मैं पेड़ों को प्यार करता, चिड़ियों की चहचहाहट, आम, केला,

कला रचना के लिये जो धैर्य की आवश्यकता है। एक निरन्तर संवाद होना चाहिए मन और जीवन के बीच, दैनिक कार्य के साथ। प्रकृति का विचार है, हमारी समझ किती कम। ज्ञान हमें किसी इतरत से जो सकता है। फिर एक क्षण आता है : मन आकाश में प्रकृति के दृश्य गति, प्रकृति ही विचार देती है!

की सरकार के अतिथि के रूप में पेरिस गया था और रजा पहले दिन से ही मेरे साथ थे, अपनी तमाम व्यवस्तताओं को दरकिनार कर।

मैं पेरिस रात में पहुँचा था। पहुँचने पर फोन किया तो बोले कि मैं अभी आ रहा हूँ। मैंने मना भी किया कि रात हो रही है। कल मिल लेंगे। पर बोले, 'नहीं, तुम अकेले हो और तुम्हें फ्रेंच भी नहीं आती। मुझे तुरंत आना ही चाहिए।' और थोड़ी देर बाद वे अपनी पत्नी जानीन के साथ उपस्थित थे।

बिना अधिक समय खोए उन्होंने देश के, भारत के मित्रों के और यहाँ के कला जगत के बारे में पूछना शुरू कर दिया। वे भारत के बारे में जानने के लिए इस क़दर उत्तेजना में थे कि मुझे लगा कि यह आदमी इतने सालों से अपने देश से इतनी दूर कैसे रहा। यह तो कहीं से भी पेरिसवासी लगता ही नहीं। जैसे इसने तो कभी भारत छोड़ा ही नहीं, फ्रांस में रहते हुए भी यह तो भारत का ही है। मुझे याद आता है कि एक

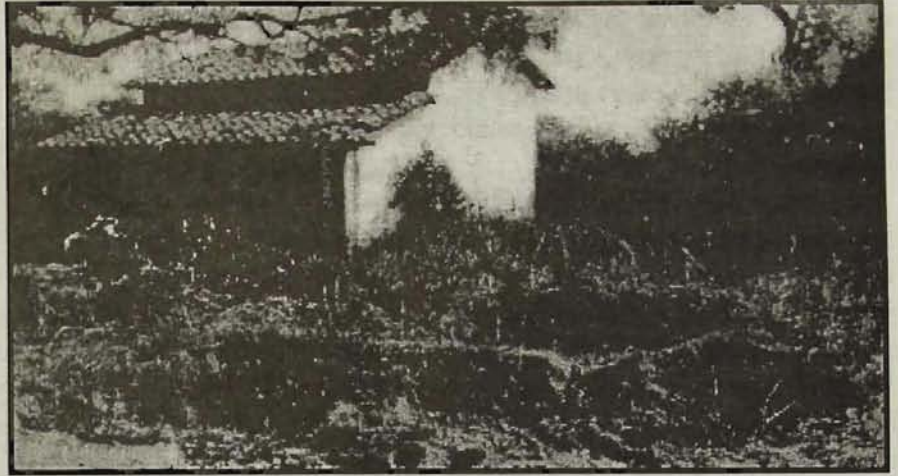
मेरा बचपन अंधकार से गहराते जंगलों में बीता है जहाँ डरावना और काला अंधेरा सारे दृश्यों को अपने में समेट लेता था और सुबह की पहली सुनहरी किरण आने पर ही उस आतंक का अंत होता था। भय से भौचक खड़े हम उस किरण की प्रतीक्षा करते रहते थे। उसी आतंक की अनुगूँज गहरे-काले सूरज में है जिसकी चमचमाहट की ज्वाला में एक घना जंगल प्रदीप्त हो उठता है।

हुआ। कई बार लम्बी-लम्बी बैठकें हुईं। औपचारिक और अनौपचारिक बातचीत हुई। कभी उनके बचपन की, कभी उनके जीवन की, कभी उनके संघर्ष की, कभी उनके चित्र कर्म की या उनकी संपूर्ण कला-यात्रा के विभिन्न सोपानों की। हर बार यह कोशिश हुई कि जाना जाय

रोशनियाँ और अंधेरे, जंगल में हाथी, हाथी मुझे खासतौर पर पसंद था, ऊँट, घोड़े। पिता महकमा जंगलात में थे। कोई हजार लोग उनके साथ काम करते थे। बचपन बहुत महत्वपूर्ण होता है किसी के लिए भी। मैंने प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट तभी से संजो कर सुरक्षित रख लिया था भविष्य के इस्तेमाल के लिए। प्रकृति का लैंडस्केप, सुरियलिस्टिक और रहस्यभरा लैंड-स्केप (यहाँ यह बताना भी जरूरी होगा कि राजा ने शुरुआत लैंडस्केप आर्टिस्ट के रूप में ही की थी) जो मेरे निकट एक चाक्षुष यथार्थ था, उसे ही मुझे आगे अपने काम में उतारना था पर वैसा नहीं जैसा आँख देखती है, तो कैसा? पर उसके लिए मुझे चित्र की सही भाषा सीखनी थी, रंगों का मिजाज समझना था और एक खास लयात्मकता, जिस सब को, सीखने में मुझे तीस साल लगे। रंगों के इस्तेमाल की आज़ादी मैंने पा ली। आर्कस्ट्रेशन भी मिला पर फिर भी कुछ और था जो अब भी नदारद था, जो शायद मूलभूत बात थी और इसके लिए मुझे भारतीय सौन्दर्यबोध के निकट आना जरूरी था। उसी की तलाश में मैं १९७५ से लगभग हर वर्ष भारत आता रहा कि प्रकृति को पढ़ सकूँ - पहाड़, नदियाँ, पेड़; यहाँ के टेक्सटाइल, संगीत, कविताओं-गीतों को जान सकूँ जिससे कि वे सब मेरी संवेदना के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकें। लेकिन इस सबमें काफी समय लगा और जब १९८२ में मैंने 'माँ' बनाया तो मुझे लगा कि मैंने कुछ पा लिया है। अशोक बाजपेयी की कविता-पंक्ति है 'माँ! लौट कर जब आऊँगा, क्या लाऊँगा?' जिससे प्रेरित है यह चित्र। इस चित्र में मैंने अपने जीवन के मुख्य अनुभवों, चिन्हों, प्रतीकों, दृश्यों और स्मृतियों को चित्रित किया है। इसे मैंने अपने प्यारे देश को समर्पित किया है, अपनी माँ को यह मेरा उपहार है।

● जी हाँ, आज भी लोग इसे आपके चित्रों में सबसे ज्यादा पसंद करते हैं और इसकी तरह-तरह से व्याख्या करते हैं। अब १८ साल बाद आप उसे किस रूप में व्याख्यायित करना चाहेंगे?

○ 'मैंने कल ही उसे अपने चित्रकार-मित्र बाल चावड़ा के यहाँ फिर से देखा। मैंने एक



तीसरे व्यक्ति की तरह अपने से खुद सवाल किया कि मैंने इसे कैसे और क्यों बनाया। विचारों और अनुभवों के अलावा इसमें मानवीय मूल्यों को भी आकार देने की चेष्टा है जिन्हें रंग के जरिए, स्पेस का उपयोग करते हुए पेश किया गया है। कुल मिलाकर एक रहस्यमयता का प्रभाव इसमें है। मूलभूत पंचतत्व, छिति, जल, पावक, गगन और समीरा अपनी जीवंत उपस्थिति दर्ज कराते हैं। रहस्यमयता काले बिंदु से और भी गाढ़ी हो जाती है। भारतीय दर्शन में जिस तरह पंचभूतों का स्थान है, बिंदु भी है जो आदि शक्ति है, बीज है और दिव्य प्रकाश का पुंज है जिसमें सृष्टि उपजती है, बीज से पेड़ बनाता है, फिर फूल, फल और उत्पत्ति का चक्र पूरा होता है।

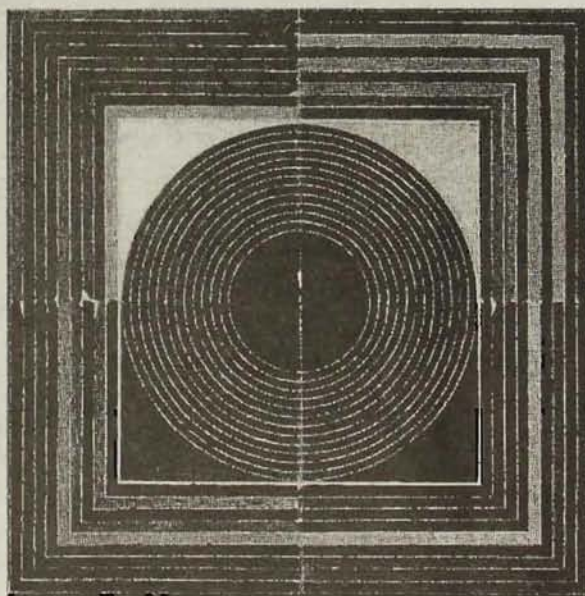
'बाद में मैंने इसी तरह का संतुलन रखते हुए ८-९ कैनवास बनाए और इस तरह मैं एक नई चित्र-भाषा

तक पहुँचने में सफल हुआ जो विचारों की लयात्मकता लिए हुए थी। ये उस तरह के चित्र न थे जिनको रेटिना देखती है ये यद्यपि प्रकृति की अभिव्यक्ति ही थे जो चाक्षुष यथार्थ से परे हो। इसे ही शायद हम अमूर्त कहते हैं। अमूर्तता अब एक मिथ्या शब्द बन गया है पर उसका संबंध विषय और आकार से परे है, बियांड द सब्जेक्ट, बियांड द वर्स। जैसे कि भीमसेन जोशी जब गाते हैं: 'आज बिरज में नाच्यो कन्हैया तो रागों, सुर और ताल में बंध कर एक भक्ति भाव फैलता है ठीक उसी तरह पेंटिंग में रंगों, आकृतियों के परे कुछ और प्रकट होता है। चित्रकार के निजी संसर्ग के साथ उसके परिवेश, उसके विचार, संगीत, कविता... सब उसमें होते भी हैं, और स्पष्टतया नहीं भी होते हैं।'

● जहाँ तक मुझे याद है के काला सूरज आपने १९५३ में पहली बार बनाया था। इसके पीछे आपकी परिकल्पना क्या है?

○ मैंने बताया है कि मेरा बचपन अंधकार से गहराते जंगलों में बीता है जहाँ डरावना और काला अंधेरा सारे दृश्यों को अपने में समेट लेता था और सुबह की पहली सुनहरी किरण आने पर ही उस आतंक का अंत होता था। भय से भौचक खड़े हम उस किरण की प्रतीक्षा करते रहते थे। उसी आतंक की अनुगूँज गहरे-काले सूरज में है जिसकी चमचमाहट की ज्वाला में एक घना जंगल प्रदीप्त हो उठता है।

● आप लगभग पचास साल से भारत से बाहर रहे हैं। पश्चिम की यांत्रिक-वैज्ञानिक प्रगति को निकट से देखा है। क्या उनका प्रभाव आपके विचारों और अंततः काम पर नहीं पड़ा? और पड़ा भी तो किस तरह आपके चित्रों की आत्मा भारतीय ही बनी रह सकी?



○ 'मैं कह चुका हूँ कि बाहर रह कर भी मैंने देश से जीवनग्राही संबंध बराबर बनाए रखा है। पिछले १० सालों से मेरे चित्रों के विषय ऐसे रहे जिनकी जड़ें भारतीय परम्परा और संस्कृति में बहुत गहरे तक जमी हुई हैं फिर भी मैंने उनका निर्वाह विज्ञान और तकनीक के विकास में तालमेल मिलाते हुए किया है।'

यह तत्व मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। मेरे तमाम प्रयास भारतीय परम्परा के प्रतीक चिन्हों को समझने की दिशा में हैं। जैसे लिंग, योनि आदि के गहरे अर्थ हैं भारतीय दर्शन में जो अश्लीलता, अभद्रता से रहित हैं। मेरा प्रयास है कि उनके निहित अर्थों का अध्ययन करूँ। कुंडलिनी, पाँच चक्र, त्रिमूर्ति, सरस्वती, गणेश, लक्ष्मी की परिकल्पना और सार्थकता क्या है। विभिन्न अनुष्ठानों और क्रियाओं को समझूँ उनका अध्ययन करूँ, ऊपरी तौर पर नहीं, बल्कि उनके गहरे अर्थ जानूँ जिन्हें मैं बचपन से देखता रहा हूँ। इस सबकी दोबारा खोज ही मेरी इन दिनों की भारत-यात्राओं का उद्देश्य रहा है। मैं एक चित्रकार के रूप में यह सब समझना चाहता हूँ, न कि विचारक या इतिहासकार की तरह।

'मेरी उत्कृष्ट इच्छा है कि जैन, राजपूत या दूसरे मिनीयेचर चित्रों, तांत्रिक तथा लोक कला को समझूँ। मेरा आश्चर्य उनकी अनुकृति करने से नहीं है, मैं उनके पीछे के सिद्धांत को समझना चाहता हूँ। मैं उन जैसी दृष्टि, विचार और समझ की नए रूप में व्याख्या करना चाहता हूँ जो मेरी बिलकुल निजी दृष्टि होगी।'

● इधर चित्र कर्म व्यावसायिकता से जुड़ता जा रहा है। आप चित्र किस उद्देश्य से बनाते हैं ?

○ 'मेरा मानना है कि कला-अनुभव में किसी उच्च शक्ति की भागीदारी आवश्यक है। आदमी तो एक माध्यम होता है जिसके जरिए दिव्य शक्तियाँ अपनी अभिव्यक्ति करती हैं। इसीलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि कला कर्म में दिव्य शक्तियों का सहयोग अनिवार्य है।

'एलोरा की गुफाओं में एक महान शिल्पकार ने बड़ी ज्ञानशक्ति से लिखा : 'एतम् कृतं वो कृत वृक्षयात्' महान शिल्पी अपनी बनाई हुई कृतियों को देखता है और कहता है, 'क्या मैंने यह बनाया है, नहीं, यह तो अकस्मात् बन गया है।' कितनी विनम्र बात है कि चित्र या मूर्ति बन जाते हैं, बनाए नहीं जाते ! कबीर ने भी कहा है कि ये कोई और बनाता है। जब कला महान होती है तो उसका कलाकार बहुत ही विनम्र होता है। अहंकार उन्हीं को होता है जो छोटे-मोटे चित्रकार होते हैं।

'अभी ग्वालियर ये एक मित्र ने एक कथा सुनाई। अकबर ताने : ायन से बहुत प्रभावित थे।

मैं बिना सन्यास लिए ही उस ओर जा सकूँगा और पूर्ण शांतिबिंदु तक पहुँच सकूँगा।

किसी और का गायन उन्हें पसंद ही न था। एक बार गायकी के एक गुरु ने उनसे अपना गायन सुनने का आग्रह किया। बादशाह ने गायन सुना। अच्छा भी लगा पर उन्होंने तारीफ तानसेन की ही करते हुए गुरु-गायक से पूछा, 'क्या वजह है कि उन जैसा गायन आपका नहीं हो पाया ?' गायक ने कहा कि शहंशाह, हमने आपके लिए गाय था जबकि तानसेन देवताओं के लिए गाते हैं। उसी तरह चित्र प्रदर्शनी के लिए तथा बेचने के लिए नहीं बनाए जाते। वही चित्र सच्चे चित्र हैं जिनमें चित्रकार अपने पूर्णतः समर्पित करके अपनी अभिव्यक्ति पाता है। यह पूर्ण समर्पण ही चित्रकार की अभिव्यक्ति की सबसे कीमती चीज है।

● आपकी कला-यात्रा का नया दौर कब शुरू हुआ और उसकी उपलब्धि क्या है ?

○ 'पिछले पाँच वर्षों से मैं एक शृंखला पर काम कर रहा हूँ। 'तमशून्य' संपूर्ण अंधकार से गुजरना। गहन काले रंग से धुंधली सफेदी और अंततः एकदम सफेद तक की यात्रा। इस शृंखला में ७ चित्र बने हैं और शायद दो और बनेंगे। पहले चित्र के केन्द्र में काला बिंदु है जैसे के उससे प्रकाश निस्सृत हो रहा है। दूसरे में बीज है जो जन्म का प्रतीक है। तीसरे चित्र में है शक्ति का उद्भव। अगले चित्र में एक पौधा उपजता है जैसे कि बच्चा जन्म लेता हो। पाँचवे चित्र में पूरा वृक्ष बन जाता है जो पूरे कैमवास पर छा जाता है। छठे चित्र में केन्द्र में बिंदु है और रंगों की बहुलता। सातवें चित्र में फूल जिसकी गंध पूरे आकाश में फैल रही है। संत तुका राम की पंक्ति है : 'आदि बीज एकले, बीज अंकुरले...'।

'इस क्रम के आठवाँ और नौवाँ चित्र बनने की प्रक्रिया में है। इच्छा है कि सलेटी, ऑफ व्हाइट और एकदम सफेद रंग अपनाऊँ। अंतिम होगा 'शांतिबिंदु'। अंतिम सत्य की तरह खालिस सफेद, दोषरहित स्फटिक पवित्रता की तरह। शांति रस दसों रसों में से सबसे कठिन है जिसे सालों की तपस्या, श्रम और योग से पाया जाता है। मुझे आशा है कि मैं बिना सन्यास लिए ही उस ओर जा सकूँगा और पूर्ण शांतिबिंदु तक पहुँच सकूँगा। बस, यही कामना है, अब।'



अतिशयोक्ति नहीं होगी अगर कहा जाए कि डॉ. महावीर अधिकारी हिन्दी पत्रकारिता के भीष्मपिता हैं! पत्रकारिता को मिशन बनाने वाले और -पत्रिकाओं को समाज और जगत की धड़कन से स्पंदित कर उसे अनिवार्य दैनिक अंग बनाने वाले, शब्दों की संस्कृति के सफ़ीर डॉ. महावीर अधिकारी का पत्रकारिता जीवन सन् १९४२ में 'नवयुग' साप्ताहिक से शुरू होता है। १९५२ में वे कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के साथ 'ज्ञानोदय' के सम्पादन से जुड़े। एक ही साल बाद 'समाज' (मासिक) के सम्पादक हुए। उनके सामान्य ज्ञान और अंग्रेज़ी-हिन्दी भाषा आधिपत्य से अभिभूत होकर विद्वान मनीषी चिंतामणि देशमुखजी ने तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. इंदिरा गाँधी के आग्रह पर (१९५४-

इंग्लैण्ड, पेरिस, जर्मनी, डेनमार्क, पोलैण्ड आदि विदेशों में भ्रमण करने से उन्होंने विश्व बिरादरी से भी आंतरिक तारतम्य कायम किया, वहाँ की संस्कृतियों-विरासत से दो-चार होने का सुदीर्घ अवसर उनकी ज्ञान-संपदा का पोषक बना, जो किताबी ज्ञान की बजाय हकीकती ज्ञान का सबब भी रहा। नवभारत टाइम्स में बांग्लादेश के मुक्तिकाल तथा उससे पहले चीनी हमले के संक्रांति-काल में उनकी संपादकीय टिप्पणियों ने क्रांति की ज्वाला फैलाने में अप्रतिम योगदान किया था। उस समय 'नवभारत टाइम्स' की प्रसार संख्या भी अपने चरम शिखर पर थी। १९७८ के बाद वे जनाब अयूब सैयद के 'करंट' हिन्दी साप्ताहिक के संपादक बने। 'कलम-कलाम', बिना-शीर्षक और चटक-मटक उनके

साहित्यिक सेवाओं के अवदान के स्वरूप विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ने उन्हें १९७६ में डी.लिट. की उपाधि से विभूषित किया। १९८८ में 'तलाश' उपन्यास पर महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा प्रियदर्शनी अवार्ड मिले। उनके समस्त साहित्यिक अवदान के मूल्यांकन के स्वरूप डॉ. टी.एन.राय के संपादन में 'औघड़ यात्रा' पुस्तक है जिसमें, उनके व्यक्तित्व, विचार और साहित्य को रेखांकित करने का अल्प प्रयास किया गया है। 'महाभारत' दूरदर्शनीय शृंखला के साहित्यिक सलाहकार के रूप में उनका योगदान अविस्मरणीय है!

किसी भी अखबार का दायित्व होता है, समाचार को समाचार की तरह छापे। अधिकारीजी उससे भी दो कदम आगे जाकर, प्रतिभा-संपन्न की तलाश करने और असहायों की मूक वाणी को मुखर करने के सुकार्य में तल्लीन रहे। कम ही लोग जानते हैं कि कवि-सम्मेलनों का महज आयोजन करने वाले रामरिख मनहर को ठाका संप्राट संचालक बनाने में एकमात्र अधिकारीजी का ही योगदान है।

रचना का मूल्यांकन रचना के ही मानदंडों पर करने वाली अंतिम पीढ़ी है अधिकारी जी। याद आते हैं वे दिन जब टाइम्स को मुगल-ए-आज़म का दरबार कहा जाता था और भारती जी, कमलेश्वर जी और अधिकारी जी को सेठाश्रयी ताजमहल में विराजे बजनिए। मगर, इन संज्ञाओं से अभिहित करने वाले की कविता जब प्रकाशनार्थ नवभारत टाइम्स में आई, तो अधिकारी जी का कहना था, वैचारिक मतभेद अलग बात है। उसके विचार उसके अपने हैं। सही या ग़लत, यह तो उसको ही देखना और आँकना होगा। मगर कवि वह अच्छा है अतः उसकी ये मिनी कविताएँ छपनी चाहिए! और छपीं।

'आदमी और गणित' और 'नरम-गरम' में उनके संपादन-काल के उतार-चढ़ाव वाले काल की लहरें शब्दांकित हैं। उनकी आकांक्षा एक ऐसे वटवृक्षनुमा संस्थान के सृजन की है, जहाँ विलक्षण प्रतिभाएँ केवल अपनी रुचि से सृजन कर्म कर सकें और जीवन-यापन की चिंतन भंग करने वाली चिंता से वे मुक्त रहें। उनकी योजनाओं में उनके वृहत् उपन्यास हैं, जो परिपूर्णता की ओर हैं। किसी भी विषय पर अचानक बोलने की उनकी वक्तुत्व-कला से उनके पूर्व, समकालीन और बाद की पीढ़ी भी सुपरिचित है, जहाँ वे मूल विषय के अनजाने पहलू उकेरने लगते।

इधर उग्र का गहरापन अवश्य उन पर कुछ प्रभावी दीखने लगा है। मगर अध्ययन-मनन की उनकी तेजस्विता ज्यों के त्यों बरकरार है।

शब्दों की संस्कृति के सफ़ीर : डॉ. महावीर अधिकारी

● रतिलाल शाहीन

रचना का मूल्यांकन रचना के ही मानदंडों पर करने वाली अंतिम पीढ़ी है अधिकारी जी। याद आते हैं वे दिन जब टाइम्स को मुगल-ए-आज़म का दरबार कहा जाता था और भारती जी, कमलेश्वर जी और अधिकारी जी को सेठाश्रयी ताजमहल में विराजे बजनिए।

६० तक) 'समाज कल्याण' का हिन्दी संस्करण निकाल उसका संपादक मनोनीत किया। सन् १९६० में दैनिक हिन्दुस्तान के संपादक बने। मगर तभी दिल्ली से मन उचाट हुआ और मार्च, १९६१ में 'नवभारत टाइम्स' बंबई संस्करण के संपादक बन कर आ गए। रचनात्मकता दबंगता वाले प्रगतिशीलता के प्रबल पक्षधर और मार्क्सवाद में गहरी आस्था रखने वाले अधिकारीजी ने 'नवभारत टाइम्स' के माध्यम से लेखकों, पत्रकारों, कवियों, संपादकों, चिंतकों की एक सुदीर्घ पीढ़ी ही तैयार कर दी, जो आज विभिन्न जगहों पर उच्च पदों पर विराजमान हैं।

हिन्दी पत्रकारिता को, भाषाई पत्रकारिता की तरह, हमेशा से दोयम दर्जे की ही पत्रकारिता माना जाता रहा है। अधिकारीजी ने इस मिथक-भ्रम को तोड़ा और वे ही एक ऐसे पत्रकार हैं, जिनसे अंग्रेज़ी के पत्रकार देश-विदेश की अभिज्ञ जानकारी पूछने के लिए उसके पास या प्रेस क्लब में भी निःसंकोच आते-मिलते रहे! अंग्रेज़ी भाषा पर उनकी महारत के अलावा मॉरीशस, बांग्लादेश, क्वालालम्पुर, इण्डोनेशिया, रूस,

दैनिक स्तम्भ उन दिनों जन-जन में प्रिय थे। चटक-मटक लिखने से पहले तो वे उनके रेखा-चित्र बनाते थे और फिर तत्कालीन किसी प्रखर घटना को अपना विषय बना लेते थे। प्रखर पत्रिकाओं के नाते ही उनके कथाकार की साँस दबी-दबी रह गई। फिर भी, 'मंजिल से आगे', 'तलाश' और 'मानस मोती' उनके उपन्यास कम लोकप्रिय नहीं हैं। 'जीवन के मोड़' और 'कोशी' उनके कहानी-संग्रह हैं। तीस से ज़्यादा उनकी कृतियाँ हैं।

लीक को छोड़कर चलने वाले, प्रयोगों में विश्वास करने वाले महावीर प्रसाद त्यागी, यही उनका असली नाम भी है, डॉ. अधिकारीजी का जन्म बिजनौर के पैगम्बरपुर में सन् १९१८ की पहली जनवरी को हुआ। पद-यात्रा उनका शगल था। दिल्ली से कलकत्ता, कानपुर से इलाहाबाद तक पैदल मार्च करना उनका शौक रहा। हरमन हेस के प्रसिद्ध उपन्यास 'सिद्धार्थ' का अनुवाद उन्होंने सात दिन में किया था यह अलग बात है कि उसके बाद सत्रह सप्ताह बीमार रहे। 'जिंदगी और तूफान' उनके ही उपन्यास पर बनी फिल्म है। उनकी कई कहानियों पर फिल्में बनी हैं। उनकी